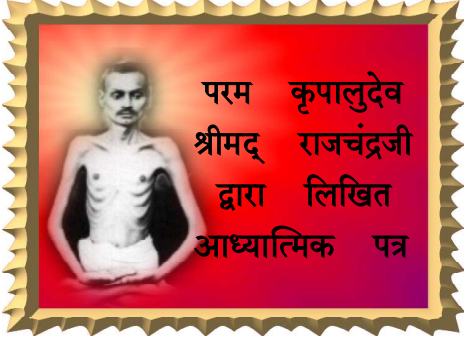


२०८ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

अनंत नय है; एक एक पदार्थ अनंत गुणसे और अनंत धर्मसे युक्त है; एक एक गुण और एक एक धर्ममें अनंत नय परिणमित होते हैं; इसलिये इस रास्तेसे पदार्थका निर्णय करना चाहें तो नहीं हो सकता; इसका रास्ता कोई दूसरा होना चाहिये। प्रायः इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वै उस नयादिक मार्गके प्रति उदासीन रहते हैं; जिससे किसी नयका एकांत खंडन नहीं होता, अथवा किसी नयका एकांत मंडन नहीं होता। जिसकी योग्यता है, उतनी उस नयकी सत्ता ज्ञानी पुरुषोंको मान्य होती है। जिन्हे मार्ग नहीं प्राप्त हुआ ऐसे मनुष्य 'नय'का आग्रह करते हैं; और उससे विषम फलकी प्राप्ति होती है। कोई नय जहाँ बाधित नहीं है ऐसे ज्ञानीके वचनोंको हम नमस्कार करते हैं। जिसने ज्ञानीके मार्गकी इच्छा की हो ऐसे प्राणी नयादिमें उदासीन रहनेका अभ्यास करे; किसी नयमें आग्रह न करे और किसी प्राणीको इस राहसे दुःखी न करे; और यह आग्रह जिसका मिट गया है, वह किसी राहसे भी प्राणीको दुःखी करनेकी इच्छा नहीं करता।



२०९

महात्माओंने चाहे जिस नामसे और चाहे जिस आकारसे एक 'सत्'को ही प्रकाशित किया है। उसीका ज्ञान करना योग्य है। वही प्रतीत करने योग्य है, वही अनुभवरूप है और वही परम प्रेमसे भजने योग्य है।

उस 'परमसत्' की ही हम अनन्य प्रेमसे अविच्छिन्न भक्ति चाहते हैं। उस 'परमसत्' को 'परमज्ञान' कहें, चाहे तो 'परमप्रेम' कहें और चाहे तो 'सत्-चित्-आनंदस्वरूप' कहें, चाहे तो 'आत्मा' कहे, चाहे तो 'सर्वात्मा' कहे, चाहे तो एक कहें, चाहे तो अनेक कहें, चाहे तो एकरूप कहें; परन्तु सत् सत् ही है। और वही इस प्रकारसे कहने योग्य है, कहा जाता है। सब यही है, अन्य नहीं।

ऐसा वह परमतत्त्व, पुरुषोत्तम, हरि, सिद्ध, इश्वर, निरंजन, अलख, परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर और भगवत आदि अनंत नामोंसे कहा गया है।

हम जब परमतत्त्व कहना चाहते हैं तो उसे किन्हीं भी शब्दोंमें कहे तो वह यही है, दुसरा नहीं।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०१९) का शुल्क श्री पियूषभाई नगीनदास भायाणी, कोलकाटा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२६४, वर्ष-२४, दिसम्बर-२०१९

आषाढ कृष्ण २, सोमवार, दि. ४-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७१, प्रवचन-२५

अब, ७१ (गाथा) बड़ा विवाद है। 'पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है।' उपोद्घात यह बाँधा है। शरीर, वाणी, मन तो पर है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, कमाना, वह भाव पाप है परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, यात्रा का भाव होता है, वह पुण्य (भाव है), वह पुण्य भी पाप है। है या नहीं अन्दर? है?

मुमुक्षु :- खुल्लम खुल्ला है?

उत्तर :- खुल्लम खुल्ला है? श्लोक है न? इसका गुजराती क्या है? है?

पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है कहे अनुभवी बुध कोई।।

वस्तु हो ऐसी कहेंगे न! कहो, समझ में आया?

'जो पाप है, उसे तो पाप जानकर सब कोई उसे पाप ही जानते हैं।' हिंसा का भाव, झूठ का भाव, चोरी का भाव, भोग का भाव, कमाने का भाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, भाव को तो सब कोई पाप कहते हैं परन्तु 'पुण्य वि पाउ वि भणइ' - वे बुद्धिमान कोई विरले हैं। 'कोई पुण्य को भी पाप कहते हैं...' आहा...हा...! समझ में आया? यह दया, दान, भक्ति शुभभाव है। भगवान शुभभाव को छोड़कर केवली हुए हैं; शुभभाव को साथ रखकर नहीं हुए हैं। शुभभाव भी निश्चय से अपने शुद्ध पवित्र धर्म की दृष्टि की अपेक्षा से, वह

पुण्यभाव भी पाप ही है। आहा...हा...! चिल्लाते हैं, वर्तमान में तो अभी पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता, वह धर्म। नगिनभाई! जाओ एक यात्रा करी, ९९वें यात्रा करी, वह धर्म। धूल में भी धर्म नहीं है। ९९वें क्या? सूख जाये नहीं वहाँ अनन्त बार, वह शुभभाव है, हाँ शुभभाव है। आत्मा के स्वभाव से पतित होता है, इसलिए पाप है।

'बुध' शब्द पढा है न? देखो! बुध - बुध। ज्ञानी उसे पाप कहते हैं - मूल पाठ में तो ऐसा कहते हैं। अज्ञानी, पाप को पाप तो सब कोई कहते हैं परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। आहा...हा...! यह तो 'योगीन्द्रदेव' दिगम्बर मुनि ८०० वर्ष पहले भरतक्षेत्र में हुए हैं। यह अभी का कथन नहीं है, पहले का पाठ है।

मुमुक्षु :- यात्रा करने नहीं जाना?

उत्तर :- जाने, नहीं जाने की (बात नहीं है), वह शुभभाव हो, परन्तु वह शुभ पुण्य बन्धन है, उसे पुण्य गिनना और निश्चय से उसे पाप गिनना। व्यवहार से पुण्य, निश्चय से पाप। लो! आहा...हा...! बहुत कड़क। वे कहते हैं - भगवान के दर्शन करे तो मोक्ष हो जायेगा। हे प्रभु! शिवपद हमको देना। देना, देना रे महाराज! शिवपद हमको देना। वहाँ भगवान के पास तेरा शिवपद होगा?

मुमुक्षु : वह भगवान के पास नहीं होगा तो कहाँ होगा?

उत्तर : इस भगवान के पास है, निज भगवान के पास अपना शिवपद है, अन्तर में शिवपद पड़ा है। बाहर से आनेवाली चीज कहाँ है? भगवान कहाँ देते हैं? और भगवान की भक्ति से क्या मिलता है? पुण्य होता है, शुभभाव होता है। पाप से बचने के लिए शुभभाव होता है। निश्चय से अपना स्वरूप अमृत है। भगवान अमृतस्वरूप है। पुण्य में आना, वह भी अपने स्वरूप से पतित होता है, इस अपेक्षा से ज्ञानी पुण्य को पाप कहते

हैं। अज्ञानी को मीठा लगता है, इसलिए उसकी भाषा में मीठा कहते हैं। मीठा किसका? पुण्य का फल जहर है। पुण्य का भाव स्वयं जहर है और उसके फल संयोग मिले और धूल मिले - स्त्री, पुत्र, पैसा मिले, उसमें क्या फल है? वह तो परवस्तु है। पर में कहाँ आत्मा आया? उसका लक्ष्य करके भोग लेना, वह तो राग है,

वह तो अशुभराग है। वह अशुभराग तो पाप है ही, जहर है ही। आहा...हा...! परन्तु पुण्य भाव भी जहर है, पाप है - ऐसा ज्ञानी कहते हैं। आहा...हा...! कितने ही तो मुनि को खोटा ठहरते हैं। कहते हैं नहीं, ऐसा नहीं होता; नहीं बैठे उसे उड़ा दे - नहीं, यह नहीं। यह क्या कहते हैं, देखो?

‘जो पुण्य वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई।’ वे ज्ञानी कोई-कोई होते हैं। पुण्य को भी पाप कहते हैं, वे ज्ञानी कोई होते हैं। अज्ञानी तो पाप को पाप कहता ही है, ज्ञानी भी पाप को पाप कहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं। आहा...हा...! अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर जितने ये शुभ-अशुभ विकल्प उठते हैं, परमार्थ से-

पवित्रता की अपेक्षा से - वे अपवित्रभाव हैं; निश्चय की अपेक्षा से अपने अमृत आनन्द को लूटनेवाला वह शुभभाव है। आहा...हा...! मदद करनेवाला नहीं। आहा...हा...! अज्ञानी कहते हैं कि वह शुभभाव है तो उससे क्षायिक समकित होता है। शुभभाव से क्षायिक समकित होता है, शुभभाव से ऐसा होता है। अरे... भगवान!

यहाँ तो कहते हैं शुभयोग तो - अपना अमृत-चैतन्य प्रभु, अमृत का सागर पड़ा है, उसमें से बाहर निकलना, वह शुभराग - अपने अमृत से विरुद्धभाव है; (इसलिए) ज्ञानी उसे पाप कहते हैं। पड़ते हैं, पड़ते हैं, निजस्वरूप में से बाहर निकलते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : पहला क्या करना?

उत्तर : पहले इस स्वरूप की दृष्टि करना। पहले पुण्य और पाप के राग की रुचि छोड़कर अपना शुद्ध भगवान आत्मा पवित्र है उसकी दृष्टि



करना, वह पहले में पहला सम्यग्दर्शन प्रगट करना। ज्ञानचन्द्रजी! क्या करना पहले? आहा...हा...! भेद करना। समयसार में नहीं आया था? पहले क्या करना? आया था न? सब थे न? ‘वंशीधरजी’ (थे, तब कहा तो) खलबलाहट हो गया। हाय... हाय...! यह क्या कहते हैं? देखो! यह क्या कहते हैं? इसमें क्या लिखा है? देखो! आत्मा और बन्ध को प्रथम तो उनके निश्चय-स्वलक्षण के ज्ञान से सर्वथा छेदना। ‘प्रथम’ शब्द पड़ा है। पहले में पहला भगवान ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ सन्त केवली कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और बन्ध में राग-पुण्य, दया, दान सब बन्धभाव है। प्रथम तो आत्मा और बन्ध, उनके नियत-निश्चय स्वलक्षण... राग का बन्ध

स्वलक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञानलक्षण से विराजमान भिन्न है, उन्हें सर्वथा छेदना - ऐसा शब्द यहाँ पड़ा है। संस्कृत टीका है। थोड़ा सा भी राग का अंश मुझे मदद करेगा - ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : सुनने का किस प्रकार?

उत्तर : यह करे। (बाकी) सब तो अनन्त बार सुना है। उसमें क्या किया उसने?

देखो! पहले अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने 'जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं गियएहिं' उसमें से निकाला है। बन्ध को छेदना, उस बन्ध को छेदना। पुण्य-पाप के परिणाम, वे बन्धरूप स्वरूप हैं। भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। दो को पहले भिन्न करना, ये पहले में पहला आत्मार्थी का कर्तव्य है। समझ में आया? इसको छूटना है या नहीं? छूटना है या नहीं? या बँधना है? बँधना है तो अनादि से बँधता है। अब छूटना हो तो पहले क्या करना चाहिए? पुण्य-पापभाव और आत्मा भिन्न है।- ऐसी पहले दृष्टि करना।

मुमुक्षु : पापभाव तो पाप है परन्तु पुण्य किस प्रकार पाप है।

उत्तर : वह पुण्य अर्थात् पवित्र आत्मा। पुण्य पाप के विकल्प, दोनों पाप है; बन्ध है; दुःख के कारण है; दोनों जहरीले भाव है। भगवान आत्मा अमृत स्वरूप है। दोनों का सर्वथा भेद करना - ऐसा पाठ पढा है। देखो! फिर कहते हैं - रागादि जिसका लक्षण है, उस समस्त बन्ध को छोड़ना। देखो! राग किसका लक्षण है? शुभभाव राग का लक्षण है या आत्मा का लक्षण है? प्रथम में प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं। तावत, प्रथम। समझ में आया? २९५ गाथा।

पहले में पहले तुझे आत्मा का कर्तव्य करना हो अथवा मोक्ष का / छूटने का उपाय करना हो तो पुण्य-पाप के भाव-विकल्प बन्ध का लक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से भिन्न विराजता है। दो का सर्वथा भेद, छेद करना, वही उसका प्रथम कर्तव्य है। पुण्य -पाप के भाव से भगवान आत्मा

का भेदज्ञान करना, भेदज्ञान करना, वही उसका प्रथम आचरण है, वही पहला कर्तव्य है। वह कर्तव्य अनन्त काल में जीवों ने नहीं किया है, बाकी सब अनन्त बार किया है। जैन मुनि दिगम्बर होकर नौवें प्रैवेयक अनन्त बार गया। उसमें क्या हुआ? शुभभाव की क्रिया की, शुक्ललेश्या हुई तो स्वर्ग में गया।

मुमुक्षु : शुक्ललेश्या में तो वहाँ सुख भोगना।

उत्तर : सुख कहाँ? धूल में सुख था? इकतीस सागर दुःख भोगकर आया। सुख कब (था), सुख तो आत्मा में है। आहा...हा...! सुख तो आत्मा में है। उस पुण्यभाव से स्वर्ग मिला तो पुण्यभाव दुःख है और (उसके फल में) स्वर्ग मिला वह भी दुःख है। धूल में कहाँ सुख था? ओ...हो...हो... आत्मा में सुख है, यह बात अभी सुनते हैं। एक व्यक्ति कहता था। आत्मा में सुख है, आत्मा में सुख है यह कहाँ सुना था? आत्मा में सुख है। तुमने कहा था न? कल सायं किसी ने कहा था। उसने कहा था। ठीक! भाई ने कहा था, सच्ची बात है। उसने शाम को कहा था कि आत्मा में सुख है यह सुना ही पहली बार है। उन पुण्य-पाप के भाव में भी सुख नहीं है, उनके बन्धन में भी सुख नहीं है, उनके फल में भी सुख नहीं है।

भगवान केवलज्ञानी परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव की वाणी में हुकम आया है कि हे आत्मा! आनन्द तेरे स्वरूप में है। पुण्य-पाप के भाव में आनन्द नहीं है, पुण्य-पाप से बन्धन पड़ता है, उनमें आनन्द नहीं है। यह तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध पड़े, उसमें आनन्द नहीं है, जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है, उस भाव में आनन्द नहीं है और प्रकृति का फल समवसरण मिले, उसमें आनन्द नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहा..आहा... अद्भुत काम, भाई! ऐ... मांगीरामजी! बेचारे कितने ही साधु तो ऐसे धूज उठते हैं, हाँ! अरे...रे...रे...! ऐसा मार्ग! मार्ग तो ऐसा है। मान या मत मान मार्ग दूसरा नहीं होता। आहा..हा...हा...।

वास्तव में आत्मा और द्विधा करने का

प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना...' प्रथम शब्द लिया है, उस दिन वहाँ भटके थे। किस साल? (संवत् २००२ साल) दूसरे साल। २० वर्ष हुए माघ महीने में साढ़े बीस वर्ष हुए। आहा...हा...हा...। व्याख्यान में गाथा ठीक यह २९५ वीं आई। उसमें आया... प्रथम क्या करना? धर्मदृष्टि करनेवाले को प्रथम क्या करना? प्रथम पुण्य-पाप का राग बन्धस्वरूप से भगवान आत्मा भिन्न है - ऐसा प्रथम पर से सर्वथा भेदज्ञान करना। सर्वथा पर से (भेदज्ञान करना)। सर्वथा (कहा है), कथञ्चित राग की मदद और कथञ्चित (ज्ञान की मदद) - ऐसा नहीं है। शशीभाई! सर्वथा जैन शासन में होता है? सर्वथा होता है? कथञ्चित् होता है। यहाँ तो (कहते हैं) सर्वथा छेदना। चिल्लाते हैं, अनेकान्त... अनेकान्त है। सर्वथा छेदना, एक अंश लक्ष्य में रखना नहीं उसका नाम अनेकान्त है। विमलचन्द्रजी! लो, अब युवकों को बैठ जाता है न! उन्हें नहीं बैठता बड़े, उल्टे पढ़-पढ़कर पढ़े हैं।

मुमुक्षु : विपरीत पढ़े न किन्तु।

उत्तर : वे भी पढ़े हैं, नहीं पढ़े? आहा...हा...हा...! अरे भाई! पहले तेरे निर्णय का भी ठिकाना नहीं है तो तेरा मार्ग कहाँ से निकलेगा? आत्मा का मार्ग तो रागरहित है, उसमें से निकलेगा या राग में से निकलेगा? आहा..हा...!

सम्पूर्ण वीतराग मार्ग-सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग, तीर्थङ्कर का मार्ग (यह है कि) पुण्य-पाप दोनों राग बन्ध का कारण है। भगवान अबन्धस्वरूपी चैतन्य लक्षण है। दोनों को अन्तर में भिन्न करना, सर्वथा भिन्न करना... दया रखे बिना। अरे रे! अनादि से मैंने पुण्य किया है। मेरे पास है तो थोड़ा रखूँ - (ऐसा अभिप्राय नहीं रखते हुए)।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि अरे...! अनादि का बन्धु, कर्म और राग साथ में आये, बन्धु को निर्दय होकर मार डाला। साथ में आए हैं न? हमेशा साथ रहते थे। अनादि से पुण्य-पाप के भाव साथ रहते थे और जड़कर्म भी साथ रहते थे। निर्दयी होकर

बन्धु का छेद कर डाला। परमात्मप्रकाश में योगीन्द्रदेव (कहते हैं)। ये भी योगीन्द्रदेव हैं। योगीन्द्रदेव कहते हैं, मुनि-सन्त-धर्मात्मा ऐसे हैं कि अपने बन्धु को ही मारते हैं, बन्धु को ही उड़ाते हैं। बन्धरूप बन्धभाव-बन्धुरूप अनादि से साथ में है, उसे उड़ाया, छोड़ा। मेरा भाव नहीं है। मेरा चैतन्य भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। इस प्रकार बन्धभाव को छेदकर अपने स्वभाव की दृष्टि करके अपने आत्मा को ग्रहण करके आत्मा का अनुभव करना ही धर्मी का प्रथम कर्तव्य है। जहाँ तक स्थिरता न हो, वहाँ तक बीच में शुभभाव होते हैं। भक्ति, पूजा, दया, दान, यात्रा का भाव होता है परन्तु वह भाव, बन्ध का कारण है। मोक्ष का कारण और धर्म का किञ्चित् कारण नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं, 'जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं...' देखो! बुद्ध कहा न? बुद्धिमान को ही विरले हैं। पुण्य को पाप कहनेवाले बुद्धिमान हैं, उन्हें बुद्धिमान कहते हैं। पुण्य को पुण्य कहे, वह तो साधारण जनता भी कहती है। आहा...हा...! परन्तु बुद्ध-बुद्धिमान, ज्ञानवन्त, भगवान की आज्ञा स्वीकार करनेवाले पुण्य को भी पाप कहकर छोड़ना चाहते हैं। 'जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं तथा इन्द्रिय सुख चाहते हैं। सामान्य रीति से यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है और पुण्य से सुख होता है।' यह साधारण लोग इस चर्चा में पड़ते हैं।

'जब धर्म की चर्चा होती है, तब यही विचार किया जाता है कि पापकर्म मत करो पुण्यकर्म करो। पुण्य से उत्कृष्ट कर्म बँधते हैं।' देखो! पुण्य से ऊँचे कर्म बँधते हैं। 'धन, कुटुम्ब, पुत्र, पत्नी, राज्य और अनेक विषय भोगों की सामग्री का लाभ एक पुण्य से ही होता है। इन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद और नारायण और प्रतिनारायण, कामदेव या तीर्थङ्कर का पद आदि महान-महान पद पुण्य से ही मिलते हैं।' संसार में चर्चा होवे तब

यह होती है। कहते हैं, यह पुण्य करो, पुण्य करने से ऐसी पदवी मिलेगी, ऐसी पदवी मिलेगी।

‘यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो संसार के भोगों के लोभ से पुण्य को ग्रहण योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।’ वह पुण्यभाव ग्रहण करने योग्य है, पुण्यभाव आदर करने योग्य है, पुण्यभाव ठीक है, भोग की इच्छा करनेवाले प्राणी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। कहो, रतनलालजी! है या नहीं? श्लोक मे है, देखो!

मुमुक्षु :— पुण्य और पाप को एक तथ्य कर डाला।

उत्तर :— पुण्य और पाप एक हो गये, आस्रवा।

‘सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पाप की तरह पुण्य को भी बन्धन जानता है...’ आहा...हा...! श्रद्धा का ठिकाना नहीं, ज्ञान का ठिकाना नहीं, उसे धर्म कहाँ से होगा? आहा...हा...! कहो, समझ में आया? ‘वे पुण्य को भी पाप कहते हैं।’ पुण्य को भी बन्धन जानते हैं और पुण्य को भी पाप कहते हैं। धर्मी तो पुण्य को भी बन्धन जानते हैं तो बन्धन के कारण से उसे पाप कहते हैं। ‘जिससे संसार में रहना पड़े, जिसे भोगों में फंसना पड़े, वह स्वाधीनता घातक पुण्य भी पाप ही है।’ स्वाधीनता का घातक पुण्य भी पाप है। पुण्य स्वाधीनता का घातक है। आहा...हा...! यहाँ तो अभी पुण्य की मिठास (वेदते हैं) कि पैसा मिले और फिर देव होऊँगा और फिर धूल होऊँगा। है? अरे...रे...! अरे भगवान! वह भी आत्मा है न! उल्टा पड़े तो भी वह है न! तीर्थङ्कर का समझाया न समझे और अनन्त परीषह पड़े तो भी समकित्ती डगमगाए नहीं। इसमें दोनों ताकत हैं। आहा...हा...!

वज्र के, अग्नि के, ऊपर से प्रहार पड़े तो भी धर्मी अपने स्वरूप से नहीं डिगता। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, दूसरी वस्तु मैं नहीं हूँ। देव आकर मार-फाड़ करके टुकड़े कर डालें (और कहें) पुण्य में धर्म है - ऐसा मान; पुण्य धर्म का कारण है - ऐसा मान; नहीं तो मार डालूँगा। कौन मारे? किसे मारे?

क्या है? हम तो पुण्य-पाप से रहित अपने स्वभाव की दृष्टि में धर्म मानते हैं, दूसरे में धर्म नहीं मानते। समझ में आया?

‘ज्ञानी को एक आत्मा का आनन्द ही प्रिय है।’ पुण्य प्रिय नहीं है। धर्मी जीव को पुण्यभाव प्रिय नहीं है। आहा...हा...। ‘उसका पूर्ण लाभ और अनन्त काल तक निरन्तर लाभ तभी होता है...’ किसका? आत्मा का, आनन्द का। आत्मा का आनन्द प्रिय है उस आनन्द का पूर्ण निरन्तर लाभ कब मिलता है? ‘जब यह जीव संसार से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जाए, पुण्य से पाप से रहित हो जाए इससे ज्ञानी जीव पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा से समान जानता है।’ पुण्य-पाप दोषों को, ऐसा। पुण्य-पाप दोषों को, शुभ और अशुभभाव दोनों दोषों को...दोष कहा है न प्रतिक्रमण के अधिकार में लिया है। दोनों शुभ-अशुभभाव दोष हैं। ‘पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा समान जानता है।’ आहा...हा...!

‘दोनों के बन्ध का कारण कषाय का मलिनता है।’ दोनों के बन्ध का कारण (कषाय की मलिनता है)। पुण्य से भी बन्धन होता है और पाप से भी बन्धन होता है। बाहर का वेश पलटता है परन्तु आत्मा नहीं पलटती। पुण्य बन्धता है तो स्वर्ग मिलता है वहाँ तो वेश पलटा उसमें आत्मा कहाँ पलटता? समझ में आया? शुभभाव से पुण्य बँधा पुण्य बन्ध से स्वर्ग मिला, धूल की सेठाई मिली वह तो बाहर का वेष पलटा अन्दर क्या पलटता। समझ में आया।

‘मन्दकषाय से पुण्य व तीव्रकषाय से पाप बँधता है। कषाय आत्मा के चारित्र गुण के घातक हैं। दोनों का स्वभाव पुद्गल है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म है। दोनों की कर्मवर्गणाएँ आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न है।’

‘पुण्य का अनुभव सुखरूप है, पाप का अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं।’ सुख...सुख। कैसा मिला पुण्य का फल मीठा, कहते हैं, ‘दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं।’ भगवान् अतिन्द्रिय आनन्द, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख के अनुभव से पुण्य पाप के भाव अत्यन्त विभाव विरुद्ध भाव है। विरुद्ध भाव है उसमें एक ठीक है और दूसरा अठीक है। ऐसा नहीं आता। अद्भुत बात, भाई! कल आया था न? विरला सुने तत्व को, इस बात को कोई विरला सुनता है। सुननेवाला कहे नहीं, नहीं ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। कुछ पुण्य चाहिये। पुण्य से यह होता है ऐसा सुननेवाले बेचारे झुण्ड के झुण्ड हैं। पुण्य और पाप दोनों बन्धनरूप, दुःखरूप, आत्मा के अनुभव से विरुद्ध, स्वभाव से विभावरूप भिन्न हैं। ज्ञानी उन्हें लाभदायक नहीं मानते हैं। आहा...हा...!

‘दोनों अनुभव कषाय की कलुषिता का स्वाद है।’ दोनों का स्वाद (कलुषित है)। ‘शुद्धात्मा में रमणता का घातक है। दोनों ही अनुभव

कषाय का कलुषिता का स्वाद है।’ पुण्यभाव का स्वाद कषाय का, पापभाव का स्वाद कषाय का। कषाय समझे? विकार। दोनों में विकार का स्वाद है।

मुमुक्षु : विकार कम ज्यादा होता है।

उत्तर : कम ज्यादा, जाति एक है न? दोनों दुःख की जाति हैं। ‘पुण्य और पाप दोनों ही नए बन्ध के कारण हैं। दोनों में तन्मय होने से कर्म का बन्ध होता है।’ ठीक लिखा है। पुण्य और पाप दोनों भाव में तन्मय होने से बन्ध होता है। ‘यह बन्ध मोक्षमार्ग में विरोधी है।’ यह पुण्य परिणाम मोक्षमार्ग का विरोधी है। पुण्य-पाप आत्मा के धर्म के लुटेरे हैं। शशीभाई! वीतरागमार्ग की बात पामर (जीव) नहीं झेल सकते। आहा...हा...! ‘ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पाप की तरह पुण्य को भी अच्छा या ग्रहण योग्य नहीं मानते वे शुभ और अशुभ दोनों भावों से विरक्त रहते हैं, कर्म का क्षय करनेवाला और आत्मा को आनन्दित देनेवाला ऐसे एक शुद्धोपयोग को भी मान्य कहते हैं।’ आहा...हा...! विशेष कहेंगे... (श्रीता - प्रमाण वचन गुरुदेव।)

पूज्य भाईश्री शशीभाई की जन्म जयंति आनन्दोल्लासपूर्वक संपन्न एवं नवीन प्रकाशन

पूज्य भाईश्री शशीभाई की ८७वीं जन्म जयंति आनन्दोल्लासपूर्वक संपन्न हुई। इस प्रसंग पर कोलकाटा, मुंबई, आग्रा, अहमदाबाद इत्यादि अनेक जगह से आकर मुमुक्षुओं ने लाभ लिया। इस प्रसंग पर, श्री दीपचंदजी कासलीवाल द्वारा रचित ‘चिद्विलास’ ग्रन्थ पर पूज्य भाईश्री द्वारा हुए प्रवचनों का गुजराती पुस्तक प्रकाशित किया गया। पूज्य भाईश्री द्वारा ‘स्वानुभूतिदर्शन’ एवं ‘तत्त्वानुशीलन’ ग्रंथ पर हुए प्रवचनों को कम्प्यूटर में फिड़ करने का कार्य चल रहा है। जिन मुमुक्षु भाई-बहनों को स्वाध्यायार्थ मंगवाना हो वे निम्न लिखित नंबर पर वोट्स अप करके मंगवा सकते हैं। श्री अतीनभाई जैन, मो. ७०४३३७०५०६

तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धिका प्रयत्न कर। दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता है—यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है। ९९.

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-९९ पर भाववाही प्रवचन, दि.६-११-१९८२, प्रवचन क्रमांक-१७ (विषय : मार्गदर्शन)

९९. 'तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धिका प्रयत्न कर।' क्या कहते हैं? कि सामान्यतः मार्ग का ख्याल नहीं है ऐसे जीवों को अनेक प्रकार के व्रत, संयम एवं बाह्य त्याग में पुरुषार्थ की प्रेरणा होती है। इस पदार्थ का त्याग करूँ तो वह राग नहीं होगा, यह कार्य न करूँ तो वह राग नहीं हो, खाना-पीना अनेक प्रकार के बाह्य त्याग में परिणमता है।

वास्तव में तो आत्मा के स्वभाव में स्थिरता वृद्धिगत हो, स्वभावस्थिरता होनेपर अनेक प्रकार के बाह्य विषयों में वृत्ति ही उत्पन्न न हो और उस पूर्वक बाह्य संयोगों का अभाव हो उसे वास्तविक त्याग कहने में आता है। यह मोक्षमार्ग की वास्तविक पद्धति है। ऐसे हुए बिना—स्वरूपस्थिरता हुए बिना पहले से बाह्य पदार्थ का त्याग करे और उस बाह्य पदार्थ के त्याग से स्वयं को उस पदार्थ के राग का अभाव होने की इच्छा रखे अथवा माने कि इस पदार्थ का इस प्रकार का मुझे नियम है, व्रत है, संयम है इसलिये वैसा राग मुझे नहीं है अथवा ऐसा त्याग करनेपर मुझे उस प्रकार के राग का अभाव हो जायेगा (ऐसा मानना) यह पद्धति पूर्णरूप से ऊलटी, विपरीत पद्धति है। वास्तव में तो इस प्रकार से राग का अभाव नहीं होता।

प्रश्न यह उपस्थित हो सके ऐसा है कि



स्वरूपस्थिरता होने पूर्व व्रत, नियम, संयम अंगीकार नहीं करना? यह प्रश्न उपस्थित होने योग्य है। भाई! शुभराग तुझे सहज आये तो सहज आनेवाले शुभराग को नहीं करना यह सवाल नहीं है। क्योंकि करना यह भी सवाल नहीं है। जहाँ करने का प्रश्न नहीं है, वहाँ नहीं करने का भी प्रश्न अपने आप ही नहीं है। जो शुभराग सहज आये तो भले सहज आये। परन्तु उसमें, यह शुभराग आया कि मुझे इतना व्रत लेना, इतना मुझे नियम पालना, इतना संयम पालना, इसलिये वह

कोई मार्ग है ऐसा विचार करने योग्य नहीं है अथवा ऐसा मानने योग्य नहीं है। इतना स्पष्टीकरण है।

इसलिये ऐसा लिया है कि दर्शनशुद्धि का तू प्रथम प्रयत्न कर, चारित्रदोष टालने का तू प्रयत्न करता है,... उसमें हेतु आ जाता है। चारित्रदोष अर्थात् रागादि भाव को टालने का तू प्रयत्न करता है और वह भी दर्शनशुद्धि होने पूर्व वह प्रयत्न करता है तो यह तो पद्धति नहीं है।

'उसके पूर्व दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर।' जो दृष्टि स्वच्छ होनी चाहिये अथवा श्रद्धान को जो स्वरूप का विषय मिलना चाहिये, वह श्रद्धा स्वरूप को ग्रहे नहीं, श्रद्धा तो राग को ग्रहे। क्या परिस्थिति होती है? कि जिस श्रद्धान में स्वरूप का ग्रहण नहीं है उस श्रद्धान में रागादि अन्य तत्त्व का ग्रहण है।

श्रद्धाने तो राग को ग्रहण किया हो और राग को छोड़ना है, यह बात कैसे बनेगी? चारित्रदोष टालना है माने राग टालना है। अब श्रद्धा में राग को ग्रहण किया है, तो उस राग को नष्ट करने का कोई अवसर है सही? कोई प्रसंग है सही? किसी भी प्रकार से राग नष्ट नहीं हो सकता।

जैनदर्शन में ही यह पद्धति है कि आत्मा जो वस्तु है उसका विज्ञान ही ऐसा है कि प्रथम उसे दर्शनशुद्धि हो तो ही उसे वास्तविक शुद्धि का प्रारंभ होकर पूर्ण शुद्धि पर्यंत की उसकी अवस्था हो। यह तो वस्तु के विज्ञान अनुसार है। अब, यह दर्शनशुद्धि का पूरा विषय ही इतना सूक्ष्म और अनुभवगम्य है कि दर्शनशुद्धि में आये बिना प्रायः जीव, जैन या अजैन, कहलानेवाले जैन या अजैन, वह चारित्रदोष नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा प्रसिद्धरूप से देखने में आता है। भाई ऐसा करता है या नहीं? इतना यह करता है कि नहीं? इतनी क्रिया करता है कि नहीं? फलाना करता है कि नहीं? रोज भगवान का दर्शन करता है कि नहीं? पूजा करता है कि नहीं? यहाँ से लेकर इतना त्याग किया है कि नहीं? इतना तो त्याग है कि नहीं? इत्यादि अनेक प्रकार से राग कितना है और कितना नहीं है, कौन-सा होता है और कौन-सा नहीं होता है, अशुभ कितना होता है और नहीं होता है, शुभ कितना होता है और नहीं होता है, इसप्रकार जबतक चारित्र के दोष पर दृष्टि है अथवा चारित्र के परिणाम पर दृष्टि है, उसके सद्भाव या अभाव पर (दृष्टि है) उसे, उससे रहित ऐसा जो शुद्धात्म स्वरूप है उसका श्रद्धान कैसे होगा? और वह दर्शनशुद्धि का प्रयत्न न करे, उस प्रकार का प्रयत्न न करे, दर्शनशुद्धि हो अर्थात् शुद्ध श्रद्धान हो, आत्मश्रद्धान हो उस प्रकार का प्रयत्न ही न करे (तो) वह प्रयत्न अन्यथा प्रयत्न है। वह मार्ग है सो अन्यथा मार्ग है अथवा उन्मार्ग है अथवा उसे अन्य मत कहने में आता है। अन्य मत कहो, उन्मार्ग कहो, अन्य मार्ग हो, सब एकार्थ है।

मुमुक्षु :— अशुभ से बचता है उतना लाभ नहीं?

पूज्य भाईश्री :— लेकिन अशुभ से बचता है और राग को श्रद्धता है उसका नुकसान क्यों नहीं

देखते हो? अशुभ से बचने का लाभ देखने का मन होता है परन्तु राग का श्रद्धान तीव्र होता है, ऐसा जो बड़ा नुकसान होता है यह क्यों नहीं दिखता? यह हमारा प्रश्न है।

मुमुक्षु :— शुद्धि करने जाता है उस वक्त सहचर राग कौन सा होता है?

पूज्य भाईश्री :— सहज प्रकार का राग? यह देखना ही नहीं है। दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना है यानी प्रयोजन, प्रयोजन का क्या है...

मुमुक्षु :— यह तो मेरा स्वाभाविक प्रश्न है कि स्वाभाविक सहचर राग कौन सा होता है?

पूज्य भाईश्री :— स्वाभाविक सहचर राग तो सामान्यरूप से तत्त्वज्ञान के विचार विषयक राग का परिणाम होता है, सामान्यतया गिने तो। विशेषरूप से तो जिसे जैसा उदय हो वह। भिन्न-भिन्न जीवों को जिसको जैसा उदय हो उस-उस प्रकार का शुभाशुभ राग होता है। क्योंकि कर्म का उदय और उसका अनुसरण, यह तो अनादि से सहज है। परन्तु जो जीव दर्शनशुद्धि की ओर मुड़ता है उसे अन्दर में तत्त्व विषयक जो विचारणा है, उस प्रकार का जो तत्त्वज्ञान के राग का, विकल्प का उत्पन्न होना है वह सामान्य है। दर्शनशुद्धि होने के साथ-साथ यह सब को होता है।

मुमुक्षु :— अभक्ष्य आदि छूटा हो ऐसा कोई नियम नहीं है?

पूज्य भाईश्री :— नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। अभक्ष्य में क्या है कि अब सामान्य बात लेनी है न! चारों गति के जीव लेने पड़ेंगे। चारों गति के जीवो लेते हैं, तो भगवान महावीरस्वामी दसवें भव में हिरन को मारकर खाने की वृत्ति में तत्पर थे। क्या था? चित्र है न? दसवें भव में सम्यग्दर्शन पूर्व की क्षणों को हम देखें तो अभक्ष्य का त्याग उन्होंने कब किया था? कि त्याग ही नहीं किया था।

जब उनको भूख लगी और हिरन को देखा, हिरन को मारा, मार डाला तब तक तो खाने की वृत्ति थी। फिक्कर वहाँ ऊपर से मुनि ऊतरते हैं तब पहले तो आश्चर्य होता है। सिंह का जीव है न! इसलिये आश्चर्य होता है कि अरे..! मनुष्य आदि प्राणिओं मेरे जैसे क्रूर प्राणी—मुझे देखकर तो दूर

भागते हैं और ये मनुष्य सामने से चले आ रहे हैं! यह क्या! पुनः सामान्यतः उसने मनुष्य को ज़मीन पर चलते हुए देखा है और यह चारणमुनि चारण ऋद्धिधारी हैं, आकाशगामिनी विद्या साध्य है अतः जो आकाश में विहार करते हैं, उनको आकाश में से ऊतरते हुए देखता है। इसलिये थोड़ा अधिक कुतूहल होता है। दो प्रकार का कुतूहल है। इसलिये उसको जो हिरन को मारकर खाने का तीव्र कषाय था वह वहाँ मंद कषाय हो गया कुतूहलवश ही, जिज्ञासावश, जिसे जिज्ञासा कहें, कुतूहल कहें। लेकिन संकल्प बदल गया था और विकल्प आया था कि यह नहीं खाना है, ऐसा तो कहीं बुद्धिपूर्वक बना नहीं था। मात्र उसकी एक राग की दिशा बदली कि अरे.. यह क्या? मनुष्य और वह भी सामने से चले आते हैं! और वह भी इस तरह ऊपर से आते हैं! यह क्या! जब उनकी देशना का प्रारंभ होता है तब परिणाम बदलते हैं। तब उसे आत्मा की ओर के परिणाम होते हैं उसमें राग और ज्ञान दोनों का परिणामन शुरू होता है वह तत्त्वविषयक हो गया।

अब वहाँ तत्त्वविषयक परिणामन हुआ उसमें यह खान और यह नहीं खाना ऐसा विकल्प भी नहीं आया हो। ऐसा विकल्प आया हो ऐसा कैसे बने? वह तो उसके विषय में पड़ गया। स्व विषय में आ गया। अब वह जो स्व विषय की तत्त्वज्ञान की परिणामन की मर्यादा है वह इतने उच्च स्तर की है, शुभभाव सहित की भूमिका लें तो वह भूमिका इतने उच्च स्तर की है कि उसमें अभक्ष्य का त्याग करने का जो शुभभाव है वह निम्न स्तर का है। तो उसका वजन ऐसा है कि अभक्ष्य का त्याग किया है कि नहीं? वह ऐसा विचार करता है कि अभक्ष्य का त्याग किया हो वह स्तर कुछ ऊच्च है, तत्त्वज्ञान का विचार आया उसमें क्या? तत्त्व का, आत्मा का विचार आया उसमें क्या? उसने अभी अभक्ष्य का त्याग कहाँ किया है?

मुमुक्षु :— तत्त्वज्ञान का विचार करे उसमें अभक्ष्य का त्याग हो ही जाता है न!

पूज्य भाईश्री :— ओटोमेटिक हो जाये वह तो। फिर तो क्या होता है कि विकल्प भले ही न आया हो कि इसको मैं नहीं खाऊँ परन्तु आत्मा की ओर

मुड़नेपर राग मिटकर शुद्धोपयोग तक पहुँच गये, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। वे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन में तब आये हैं। उनकी प्रसिद्धि, उस जीव के परिभ्रमण की प्रसिद्धि तो ऋषभदेव भगवान के समय से है। ऋषभदेव भगवान के वे पौत्र थे। पुत्र के पुत्र मरिचिकुमार। और वहाँ से तो उन्होंने प्रसिद्धरूप से विरोध किया है। चौबीस तीर्थकरों का जो महापुराण है, महापुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण और महापुराण, महापुराण में तो चौबीसों तीर्थकरों का इतिहास है। उसमें महावीरस्वामी भगवान का इतिहास ऐसा है कि ऋषभदेव भगवान के समय में उन्होंने समवसरण के बाहर रहकर गालियों की बरसाद बरसाने में कुछ बाकी नहीं रखा। उतना विरोध किया है। यह मायावी है, यह प्रपंची है, सब को ठगते हैं, मेरे पिता के पिता हैं, मैं पहिचानता हूँ, आप कहाँ-से पहिचानोगे? वहाँ से लेकर बहुत विरोध किया है। गये हैं नर्क में। ऐसा नहीं है कि भगवान का जीव था इसलिये नर्क में गये ऐसा कैसे कहें? न्याय तो सब को जैसे परिणाम करे उस अनुसार कुदरती तौला जाता है। कोई तौलना, नहीं तौलना, कम-बेसी देने का किसी को अधिकार अथवा ऐसा कोई प्रसंग नहीं है।

तत्पश्चात् वे जिस-जिस भव में मनुष्य हुए हैं, उस-उस भव में असंख्य, अरबों वर्ष गये हैं। उन्होंने जैनधर्म का विरोध का झण्डा लेकर मुख्यपने प्रवृत्ति की है। तीव्र क्रोध के परिणाम किये हैं और नर्क में अनेक बार गये हैं, एक बार नहीं अपितु अनेक बार नर्क में गये हैं, अनेक बार क्रोधी जंगली पशु के भव में गये हैं। अजगर के भव में, बाघ का भव, मगरमच्छ का भव, हाथी का भव। अभी भी नर्क के भवमें से ही सिंह के भव में आये हैं। सिंह के भव में आये हैं वहाँ से और वहाँ भी अभी क्रोध की प्रकृति (है)। सिंह भी क्रोधी प्राणी है। बहुभाग जंगली प्राणी सब क्रोधी होते हैं।

उसका काल वहाँ बराबर परिपक्व हो गया है। जहाँ देशना सुनता है कि अरे..! कौन है तू? कुदरती कैसा नियम है कि उनकी भाषा और भाव और सब का मेल हो जाता है। चारण ऋद्धिधारी मुनि है। अन्यथा तिर्यच प्राणी को उपदेश का प्रसंग नहीं होता। देशना का प्रसंग तिर्यच को नहीं बनता। शास्त्र

तो पढ़ नहीं सकते, मनुष्य को वे सुनकर समझ नहीं सकते। फिर भी ऐसा ही प्रसंग बनता है कि उसकी भाषा में वह समझ जाये ऐसा प्रसंग (बनता है)। मुनि चारण ऋद्धिधारी थे न! सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है तब इतनी हद तक आते हैं कि भूख लगी है फिर भी मृत हिरन को खाने की वृत्ति बदल जाती है। तब से समाधि मरण पर्यंत के सर्व काल में त्याग कर देता है। क्योंकि सिंह घास नहीं खाता। सिंह घास खाता नहीं और वह दूसरे प्राणी को मारकर खाये नहीं। दोनों बात एकसाथ हो गयी। इसलिये जबतक वह देह छूटे तबतक आहार का त्याग करता है। तब आहार का त्याग करता है और सीधा वहाँ से मनुष्य में उत्पन्न होता है। फिर मनुष्य और देव, मनुष्य और देव, दसों भव में देव और मनुष्य के सिवाय दूसरी गति नहीं होती।

कहने का मतलब यह है कि सहज कषाय की मंदता हो और बाह्य त्याग एवं व्रत और नियम, संयम में परिणाम लगे तो हठ से जाने नहीं देकर अशुभ में जाना, ऐसा एकदम सामान्य बुद्धि के बाहर का उपदेश तो जैनदर्शन जैसे तात्त्विक दर्शन में होने का सवाल ही नहीं रहता। अतः वह बात तो विचार करने योग्य भी नहीं रहती। परन्तु सामान्यतः ऐसा देखने में आता है कि जीव दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करने के बदले अनेक प्रकार के राग का अभाव करने के लिये बाह्य पदार्थ के त्याग में जाता है। और उस त्याग के कारण उसे क्या होता है वह, अब नीचे कहते हैं।

‘दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं...’ यह तो बहुत ही मार्मिक वचन है। श्रद्धान में तो राग को ऐसी ही पकड़ रखा है कि यह राग करने जैसा है, पहले यह करने जैसा है, पहले यह छोड़ूँ, इसका त्याग करूँ ऐसे राग को तो बहुत ग्रहण करे, अभेदपने ग्रहण करे, एकपने ग्रहण करे उसे तो दृष्टि में से त्याग करता नहीं। श्रद्धान में उसके साथ एकत्व करे। **‘और बाह्य त्याग कर बैठता है...’** अर्थात् अमुक पदार्थों का त्याग करता है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में विभिन्न प्रकार के

त्याग को ग्रहण करता है। तब वह त्याग करने के राग को ग्रहण करता है। क्या करता है? जब वह बाह्य पदार्थ का त्याग करता है तब वह बाह्य पदार्थ के त्याग के राग तो श्रद्धान में एकत्वपने ग्रहण करता है और चारित्रमोह में भी उसे ग्रहण करता है।

और **‘यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है।’** यह बड़ा नुकसान है। भले ही कदाचित् थोड़ा अशुभ कम हुआ हो, परन्तु सबसे बड़ी से बड़ी अशुभ प्रकृति है वह मिथ्यात्व की है। मिथ्यात्व की प्रकृति शुभ है या अशुभ? स्पष्टरूप से अशुभ है। उसमें कोई शुभ का विकल्प है नहीं। मिथ्यात्व की प्रकृति सब से बड़ा अशुभ है और जैनदर्शन के अतिरिक्त सब अन्यमतों में बड़े पाप को कोई समझता नहीं है और छोटा पाछ छोड़ने का सर्वत्र उपदेश चलता है। यह तो बड़ी गड़बड़ी है। बड़ी गड़बड़ी हो तो यह है कि छोटे पाप को बड़ा बताये। उसे छोड़ने की बहुत महत्ता दे। देखिये न! ये लोग ब्याज नहीं खाते। मुसलमान लोग इस्लाम धर्म के अन्दर ऐसा कहते हैं कि हमें ब्याज नहीं खाना। उसमें खासकर जो मक्का जाकर हज कर आते हैं, हाजी होकर आते हैं वे लोग तो खास मानते हैं कि अब हम हाजी बन गये हैं और हाजी लोगों से तो ब्याज खाया नहीं जाता। क्या करे?

मुमुक्षु :— ... मिथ्यात्व का त्याग बाद में करेंगे।

पूज्य भाईश्री :— लेकिन पहले ऐसा करने में क्या दिक्कत है? आप पुरुषार्थ तो एक ओर ले जाते हो न? आप को जो कुछ सामायिक, प्रतिक्रमण, त्याग आदि जो कुछ शुभभाव में करना हो उस ओर आप पुरुषार्थ को तो प्रेरते हो या नहीं? उस पुरुषार्थ को उस तरह प्रेरित करने के बदलेपुरुषार्थ को शुद्ध श्रद्धान करने में क्यों नहीं प्रेरते? बस! इतना सवाल है। पहले जो करने योग्य वह पहले करना, बाद में जो करने योग्य है वह बाद में करना। उसमें क्या दिक्कत है? जो अनादि से प्रसिद्ध मार्ग है, जिनोक्त मार्ग है यह तो, जिनमार्ग है, उस जिनमार्ग को छोड़कर दूसरी परंपरा चालू करने का क्या फायदा है? क्या अपनी महत्ता स्थापित करनी है कि नहीं, भले ही भगवान ने कहा, हमने स्वतंत्ररूप से इसकी खोज की है।

मुमुक्षु :— सामायिक, प्रतिक्रमण सब करने को कहा है।

पूज्य भाईश्री :— लेकिन भगवान ने मार्ग का क्रम दिया है कि नहीं? यहाँ क्रम का सवाल है। मार्ग का जो क्रम है उस क्रम को छोड़कर अक्रम से मार्ग को ग्रहण करना, यह तो आज्ञा की अवज्ञा करने के बराबर है, आज्ञा तोड़ने के बराबर है।

मुमुक्षु :— गुरुदेव ने कहा कि जैन नामधारी को भी ऐसा वर्तन नहीं होता, उस पहले वज्रन देना या उसको गौण करना और पहले इसे मुख्य करना?

पूज्य भाईश्री :— इसे मुख्य करो तो सब आ जायेगा। इसे मुख्य करो तो सब उसमें आ जायेगा और अन्यथा जैन नामधारीपना रखने में अटकना होगा। जैन नामधारीपना तो हुआ न! चलिये इतना तो हमने किया न! भाई! वह अनंत बार किया है। तू द्रव्यलिंगी अनंत बार हुआ उसमें जान नामधारीपना का तुझे इतना मोह क्यों है? तू द्रव्यलिंगी अनंत बार हुआ, अब जैन नामधारीपना तो होना चाहिये, कम से कम इतना तो करूँ। उस दिशा में मत खीँचा, उस दिशा में पुरुषार्थ का व्यय मत कर। तेरी सर्व शक्ति और सर्व उद्यम से एक श्रद्धानुशुद्ध हो ऐसा प्रयत्न यदि तू कर तो तू सन्मार्ग पर है, सम्यक् मार्ग पर है। बस! तू सम्यक् मार्ग पर है इसलिये पूर्णविराम हो गया, उसमें फिर अन्य विकल्प का स्थान नहीं है।

पाँचवाँ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि तिर्यच बैल के भव में हरा घास खाता है। कौन? चौथा नहीं, पंचम गुणस्थानवर्ती। अब आप उसे जैन नामधारी कैसे कहोगे? सामान्यतः हरित है, वह मिथ्यादृष्टि हो तो विचार आये कि भाई, कोई बड़ा दिन है अथवा तिथि का दिवस है तो अपने हरित नहीं खाते। अब, यह तो पंचम गुणस्थान में है। हरित के सिवाय उसका दूसरा आहार है नहीं। वह पंचम गुणस्थान में होता है। उसे जैन नामधारी नहीं है, ऐसा कहोगे? खरा सच्चा जैन श्रावक ही वह है, नामधारी श्रावक तो वास्तविक श्रावक नहीं है। सच्चा श्रावक ही वह है। भगवान के ज्ञान में और भगवान उसे सच्चे श्रावक का सर्टिफिकेट देते हैं, नामधारी को नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु :— गुरुदेव का इन शब्दों के पीछे आशय क्या था?

पूज्य भाईश्री :— आशय यह है कि लोग समाज में स्वच्छंद में आ जाने का बहुत संभव है। वर्तमानकाल, वर्तमान आचार, विचार, धंधा-व्यापार और संयोगों का प्रकार ऐसा है, पंचेन्द्रिय विषयों के साधनों की विपुलता (इतनी है) कि लोग सत्य समझते हुए स्वच्छंद करने में देर नहीं लगती। इसलिये साथ-साथ सब बातें आये परन्तु उसकी पारमार्थिक मर्यादा क्या है यह समझना चाहिये। पकड़ करने के लिये कोई बात नहीं है।

मुमुक्षु :— बैल को पंचम गुणस्थान कैसे है?

पूज्य भाईश्री :— उसे उतनी स्वरूपस्थिरता होती है। तिर्यच संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्यग्दर्शन प्राप्त करे और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद विशेष स्वरूपस्थिरता में आये तो वह स्वरूपस्थिरता पंचम गुणस्थान है। यह भगवान के ज्ञान में तिर्यच गति के साधक की उत्कृष्ट मर्यादा है। यहाँ तक वह जीव साधन कर सकता है और करते हैं, वर्तमान में भी है। अढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में है। आज भी है, अभी भी है। यह दिव्यध्वनि से शास्त्रों में प्रसिद्ध विषय है। ऐसा है। अपने यहाँ क्या है कि पंचम गुणस्थान में श्रावक में देशव्रत, आंशिक त्याग लेने में आया है। यह तो उसका बाह्य दिखाव है कि स्वरूपस्थिरता बढ़नेपर अनेक प्रकार का बुद्धिपूर्वक का राग उत्पन्न नहीं होता और इसलिये उसे राग के विषय का अभाव होता है, उसे संयोग ही नहीं होता तब उसका जो बाह्य त्याग दिखे, उसको आंशिक त्याग अथवा देशव्रत कहते हैं। लेकिन कोई ऐसा त्याग करे इसलिये श्रावक है, ऐसा नहीं है। स्वरूपस्थिरता सो पंचम गुणस्थान है। बाह्य त्याग तो उसका बाह्य परिणाम है, बाह्य दिखाव है उसका। परन्तु कोई नकल करे, स्वरूपस्थिरता न आये लेकिन बाह्य त्याग की नकल कर ले कि यह हम देशव्रत पालते हैं तो उसे पंचम गुणस्थान गिनना कि नहीं? तो उसे पंचम गुणस्थान तो नहीं है परन्तु उसे पंचम गुणस्थान माननेपर चतुर्थ गुणस्थान भी नहीं है, उसे पहला गुणस्थान है और वह भी गृहीत मिथ्यात्व का पहला है। मिथ्यादर्शन पहला गुणस्थान है लेकिन उसमें गृहीत मिथ्यादर्शन का पहला गुणस्थान है। अगृहीत भी उसको नहीं रहता। इतना दोष है।

ऐसे मान्यता के बड़े दोष को समझे नहीं, विचार करे नहीं, समझकर नष्ट करने का प्रयत्न करे नहीं और बाह्य त्याग कर बैठते हैं कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा, मेरा राग नष्ट होगा, मुझे लाभ होगा, इतना तो लाभ है न! वह मिथ्यात्व के भाव का ही पोषण करता है। यह बड़ा नुकसान है।

मुमुक्षु :— चतुर्थवाला द्रव्यलिंगी हो तो चतुर्थ भी चला जाता है?

पूज्य भाईश्री :— नहीं, द्रव्यलिंगी होता है, कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान में द्रव्यलिंग अंगीकार करे, दीक्षा अंगीकार करे तब वह, अंतरंग में और बाहर में माने या मनवाये कि मैं साधु नहीं हूँ परन्तु मैं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक हूँ। भले ही मैंने दीक्षा अंगीकार करी है तो भी मैं मुनिपना का अभिलाषी हूँ, मेरी मुनि बनने की भावना वर्तती है, तीव्र भवना वर्तती है। सहजपने ही अशुभ उपयोग में जाना नहीं होता है और सहजपने ही पंच महाव्रतादि शुभ उपयोग में रहना होता है, वह भी हठ से नहीं।

(राग की) मंदता हो तो वह मंदता छोड़कर गृहस्थी के तीव्र कषाय के परिणाम करना ऐसा तो कोई उपदेश नहीं है। इसप्रकार द्रव्यलिंगी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी हो, द्रव्यलिंगी पंचम गुणस्थानवर्ती भी हो। वहाँ से वह पंचम में आता है। छठवें-सातवें गुणस्थान का पुरुषार्थ न हो सके तो कोई पाँचवें में आता है। फिर भी वह समझता है कि मेरे परिणाम में अभी साधुदशा—मुनिदशा प्रगट नहीं हुई है। क्योंकि मुनिदशा तो प्रगटरूप से ऐसी है कि क्षण-क्षण में वह शुद्धोपयोग में आता है। अब प्रतिक्षण शुद्धोपयोग में आना नहीं होता है फिर भी कभी-कभी शुद्धात्मा का उपयोग तो होता है और ज्ञाताधारा भी वर्तती है तो उसका कहीं निषेध नहीं हो सकता। जो परिस्थिति है सो है। उसे अन्यथा माने नहीं और अन्यथा मनवाये नहीं। माने तो ही मनवाये, माने नहीं तो मनवाने का तीव्र कषाय तो उसको होता नहीं। मनवाना तो तीव्र मायाचार है। स्वयं माने नहीं तो मनवाने का प्रश्न नहीं है। स्वयं मानता नहीं, मनवाता भी नहीं इसलिये वह निर्दोष है। भले ही द्रव्यलिंग धारण किया हो, उसका उसे कोई दोष नहीं है और उसे मिथ्यात्व आता नहीं, मिथ्यात्व नहीं होता।

अतः जो पूरा मान्यता का विषय है, मिथ्या मान्यता और सम्यक् मान्यता, इस विषय को पूर्णरूपेण पहले समझना चाहिये। प्रथम सीढ़ी पर साधकदशा की शुरुआत वहाँ से होती होने से इस विषय को पूर्णरूप से समझकर आगे बढ़ना चाहिये। उसे छोड़ दे, उसे समझे ही नहीं और अन्य भी कोई प्रकार से धर्म होने का विचार करे, वह सब उन्मार्ग है। वह पूरा भगवान ने कहे हुए जिनमार्ग को छोड़कर प्रवर्तने की बुद्धि हुई है, वह अन्यमत की बुद्धि है। सब अन्यमति को यही सूझा है। वहाँ से अन्यमत पनपा है। फिर तो बहुत मान्यतावाले हो तब उसे संप्रदाय कहने में आता है।

इसलिये कहते हैं कि पहले तू चारित्रदोष यानी रागादि टालने का प्रयत्न करता है। कैसे? बाह्य त्याग करके। पदार्थ के त्याग से राग का त्याग होगा, उसमें यह शल्य पड़ा है। पदार्थ के त्याग से राग का त्याग होगा। मैं राग का अभाव करूँ तो पदार्थ का सहज ही संयोग नहीं होगा। क्योंकि वृत्ति के बिना तो संयोग होने का सवाल नहीं है। और वृत्ति के बिना कोई संयोग हुआ तो उसका दोष नहीं है। जैसे कि भगवान को वृत्ति नहीं है और समवसरण की रचना होती है। ऐसा वैभव तो कहीं नहीं होता। भगवान को परिग्रह का दोष नहीं है। मुनि निर्वस्त्र होते हैं। कोई उपसर्ग करके कंबल और शोल अथवा कोई भी कपड़ा फेंके तो मुनि को कहीं दोष नहीं है। वृत्तिपूर्वक ग्रहण करे तो चारित्र का दोष है। अन्यथा तो कहीं दोष नहीं लगता।

इसलिये कहते हैं कि चारित्र का दोष तू टालने का प्रयत्न करता है, यह करने पूर्व दर्शनशुद्धि के लिये प्रयत्न कर। पहले तू तेरा श्रद्धान शुद्ध हो यह प्रयत्न, उस दिशा का तू प्रयत्न कर। और उस दिशा का प्रयत्न होने अर्थ उसकी पूरी लाइन है। बाह्य त्याग में कषाय की मंदता का तुझे व्यामोह है कि इतना कषाय मंद होता है परन्तु उससे अधिक मंद कषाय तो दर्शनशुद्धि के प्रयत्न के प्रारंभ में ही हो जाता है, उससे अधिक, ऊच्च स्तर का।

जो कोई जीव स्वरूपश्रद्धान में आने से पहले स्वरूप की अंतर जिज्ञासा में, अपूर्व जिज्ञासा में आता है, उसके बाह्य विषयों प्रति के परिणाम इतने नीरस

होते हैं, जिज्ञासावशात् इतने नीरस होते हैं कि उतने नीरस परिणाम तो ऊपर से किये हुए बाह्य त्याग से भी नहीं होते। वह तो तुझे झूठा व्यामोह है। क्योंकि बाह्य त्याग हुआ न, इसलिये वह दिखाव एवं आडंबर का तुझे शौख है। तेरी दृष्टि परिणाम सन्मुख नहीं है। यदि परिणाम पर दृष्टि होती तो परिणाम तो इसमें अधिक उच्च स्तर के अथवा अत्यंत मंद कषाय के होते हैं। यह मार्ग तो तूने छोड़ दिया और बाहर में त्याग होने का दिखाव हुआ कि मैं यह नहीं करता, यह छोड़ दिया है। यह तुझे पसंद है, तुझे उस प्रकार का मोह है, दूसरा कुछ नहीं। लाभ तो उसमें कम है और इसमें लाभ अधिक है। फिर भी एक बाहर में दिखाव का आडंबर का तुझे स्थूल अथवा सूक्ष्म परिणाम चलता हो, तब उस शुभ परिणाम के साथ-साथ माया का एक प्रकार है। किसका प्रकार है? माया का वह प्रकार है। माया ऐसा गुप्त चोर है। मान और माया, मालूम पड़े नहीं। ऐसा विषय है।

कहते हैं कि, उसे नष्ट करने का प्रयत्न करता है उसके बजाय पहले दर्शनशुद्धि के लिये प्रयत्न कर। ऐसा कहनेवाले अपने बहुत अनुभव के निचोड़ से कहते हैं। पहले तो यह विचारणीय है कि यह जो कहनेवाले हैं, ये बहुत ही अनुभवपूर्ण रूप से इस बात को पेश करते हैं। यह बात, प्रस्तुत विषय है वह, बहुत अनुभव से रखी गई बात है।

इस भव में देखो तो गुरुदेवश्री ने स्थानकवासी की दीक्षा अंगीकार की थी। क्या? दीक्षा अंगीकार की थी। पंच महाव्रत की प्रतिज्ञा आदि सब उसके अन्दर आता है। वह सब कितना मंथन चला होगा! अपने तो प्रत्यक्ष परिचय है। ऐसा कहते थे कि हम सिर डूब जाये उतने अन्दर थे। किस में?

मुमुक्षु :- स्थानकवासी में पंच महाव्रत होते

हैं?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जब दीक्षा अंगीकार करे तब तो सब आये ही न! विधि में तो सब आये। फिर भले विधि में थोड़ा फेरफार किया हो।

मुमुक्षु :- सर्वविरति लेनी पड़े।

पूज्य भाईश्री :- सर्वविरति होती है न! इसलिये वह सब आये न! अहिंसा आदि पाँच है न? जूठ, चोरी, परिग्रह का त्याग और अब्रह्म का त्याग। देशव्रत और महाव्रत। वे लोग भी देशव्रत और महाव्रत ही कहते हैं न। देशव्रत और महाव्रत ही कहते हैं। श्रावक के लिये देशव्रत।

मुमुक्षु :- अट्टाईस मूलगुण...

पूज्य भाईश्री :- अट्टाईस मूलगुण का विषय नहीं है, पंच महाव्रत है। फिर शेष उत्तरगुण जो हैं उसमें बहुत फेरफार है और उसमें छूट भी बहुत है।

मुमुक्षु :- उन लोगों में सत्ताईस है।

पूज्य भाईश्री :- सत्याईस है? ठीक! भाई को मालूम (है), सत्ताईस है। अतः ऐसा है। थोड़ा-बहुत फेरफार करे। मूल तो जो परंपरा चली आती है उसमें अलग हो, तब क्या करते हैं? थोड़ा फेरफार करे कि हमारा इतना अलग है। हमारा यह स्पेश्यल। आप का इतना, हमारा इतना। इसप्रकार अलग तो तब ही पड़े न। एक हो तो अलग पड़ने का प्रश्न नहीं रहता।

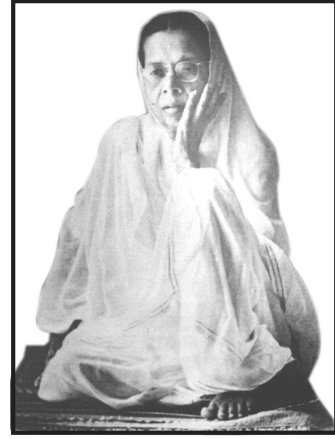
गले तक नहीं डूबे थे, परन्तु सर तक डूबे हुए थे। उसमें से निकले हैं। उन्होंने कितना मंथन किया होगा! त्याग कहीं नहीं लिया था ऐसा नहीं था। परन्तु बहुत मंथन से यह बात आयी है।

(३९:०० मिनिट तक, प्रवचन का शेष अंश अगले अंक में...)

स्वानुभूतिप्रकाश पत्रिका सम्बन्धित

सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित हो रही स्वानुभूतिप्रकाश मासिक पत्रिकाके एड्रेस सम्बन्धित किसी भी प्रकारका फेरफार, नाम डलवाना, कटवाना इत्यादिके लिये निम्नलिखित नंबर पर अपना ग्राहक क्रमांक लिखकर वोट्स एप करनेकी विनती। प्रशांतभाई जैन, मो. ९३७७१०४८६८

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी. ४ C



मुमुक्षु :- ज्ञानप्राप्ति की जिसे इच्छा है, उसे ज्ञानी की इच्छासे वर्तन करना, ऐसा जिनागम आदि सर्व शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे प्रवर्तनेसे अनादि कालसे भ्रमण किया है। उसमें क्या अर्थ होगा यह कृपया समझाईये।

समाधान :- जिसे आत्मा का स्वरूप समझना हो और आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति करनी हो, आत्मा का स्वरूप प्राप्त करना हो तो वह खुद अनादिसे जिसप्रकार अपनी इच्छासे एकत्वबुद्धिसे वर्तता है ऐसे नहीं वर्तते हुए, ज्ञानी क्या कहते हैं और ज्ञानी का कहने का क्या आशय है, इसप्रकार वर्तन करनेसे उसे अंतरमेंसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।

खुद तो अनादिसे भ्रम में पड़ा है। क्योंकि स्वरूप को तो जानता नहीं और जिसने जाना है, उनकी इच्छासे अर्थात् वे जो कहना चाहते हैं, वे जो कहना चाहते हैं उसका आशय ग्रहणकरके तत्त्व का क्या स्वरूप कहते हैं, ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो? आत्मा क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? ये परद्रव्य-स्वद्रव्य क्या है? और भेदज्ञान कैसे करना? अंतर आत्मा को कैसे पहचानना? द्रव्य पर कैसे दृष्टि करनी? द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है? ज्ञानी जो वह स्वरूप कहते हैं, स्वानुभूति कैसे प्राप्त हो? जो स्वरूप कहते हैं, उनका कहने का जो आशय है, उस आशय अनुसार खुद समझकर उस रूप परिणमन करना। तो उसके भव का अभाव हो और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अपनी इच्छासे यानी खुद अनादिकालसे अपने स्वच्छन्दसे वर्तता है, स्वद्रव्य और परद्रव्य में एकत्वबुद्धिसे, द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप अपनी मतिकल्पनासे जैसे ठीक पड़े वैसे मान रहा है, अपनी कल्पनासे इसका ऐसा है, इसका ऐसा है, अर्थ कर रहा है, ऐसे वर्तन नहीं करके, ज्ञानी जो कहते हैं उस अनुसार उसका आशय समझकर उस रूप परिणमन करे तो ज्ञान की प्राप्ति होती है।

मुमुक्षु :- माताजी! प्रश्न क्या होता है? कि वह सत्शास्त्र पढ़े तो उसे ज्ञान की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

समाधान :- वह शास्त्र पढ़ता है, शास्त्र में सब रहस्य आता है, लेकिन जिसे साक्षात् प्राप्ति हुई है, उसका जो आशय ग्रहण होता है वह अलग प्रकारसे होता है। उसमें—शास्त्र में शब्द है, लेकिन किस आशयसे शास्त्र में आता है वह आशय तो खुद जो समझा है वह अन्दरसे आचार्य का आशय क्या है उसे नक्की करके ग्रहण करता है। वह खुद जो समझे हैं उसका रहस्य समझते हैं। बाकी जो नहीं समझा है वह तो अपनी मतिकल्पनासे शास्त्र का अर्थ करता है। क्योंकि शास्त्र में सब तरह की बातें आती हैं। उसमें निश्चय की बात आती हो, व्यवहार की बात आती हो, हर तरह की बात आती है। उसमें प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप सब प्रकारसे आता है। उसमें अनेक प्रकारसे निश्चयनयसे, व्यवहारनयसे सब बात आती हो, उसमें कहाँ उसे वज्रन देना, उसका स्वरूप क्या ग्रहण करना, वह अपनी मतिकल्पनासे समझ लेता है। लेकिन जो समझानेवाले हो, उनका वज्रन कहाँ है, कहाँ नहीं होता वह सब उनके भाव द्वारा ग्रहण होता है। चैतन्य स्वरूप जिसे प्रगट हुआ है, वह व्यवहार किसे कहते हैं, व्यवहार का कितना वज्रन, निश्चय का कितना वज्रन है, द्रव्य किसे कहते हैं, गुण किसे कहते हैं, पर्याय किसे कहते हैं, वह जो समझकर कहते हैं उसका आशय तुरन्त ग्रहण होने का कारण बनता है।

शास्त्रमें तो अपनी मतिकल्पनासे अर्थ कर लेता है। व्यवहार के शास्त्र में सब व्यवहार की बातें बहुत आती हैं और अध्यात्म शास्त्र में सब अध्यात्म की बातें आती हैं। द्रव्यानुयोग में द्रव्यानुयोग की, चरणानुयोग में चरणानुयोग की, करणानुयोग में करणानुयोग की अनेक प्रकार की बातें आती हो, उसमेंसे उसका मेल करना उसे मुश्किल पड़ता है। खुद की मतिकल्पनासे, खुद की जहाँ रुचि हो, जिस प्रकार का स्वयं को रस होता है, व्यवहार का रस हो तो व्यवहार अनुसार अर्थ करता है और अध्यात्म का उस प्रकारसे अर्थ (करे)। लेकिन निश्चय-व्यवहार की संधि करनी वह अपनी मतिकल्पनासे हो सकती नहीं। ज्ञानी जो साक्षात् समझाये वह बात अलग होती है।

मुमुक्षु :- माताजी! किसीको क्षयोपशम बहुत हो, तो क्या सच्चे अर्थ नहीं कर सकता?

समाधान :- क्षयोपशमसे अर्थ नहीं होते लेकिन अन्दर की रुचि (हो), क्षयोपशम थोड़ा हो लेकिन प्रयोजनभूत (जाने), आत्मार्थी हो तो उसके अर्थ करे, लेकिन एकबार तो अनादिसे ज्ञानी के पास उसने सुना होना चाहिये। एकबार अनादिकाल में प्रत्यक्ष ज्ञानी मिले, उसे अन्दरसे देशनालब्धि प्रगट हो और उसे कोई अपूर्वता जागृत हो तो उसकी दृष्टि उसप्रकारसे ग्रहण करने को तैयार होती है। बाकी एकबार प्रत्यक्ष ज्ञानी का योग हुए बिना उसका आत्मा उसप्रकारसे तैयार हो नहीं सकता। ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध है। अपनेआप अर्थ करे, क्षयोपशमसे अर्थ तो बहुत करते हैं, ग्यारह अंग पर्यंत (जाता है), अन्दरसे ग्यारह अंग का ज्ञान प्रगट होता है। लेकिन अन्दरसे यदि खुद को आत्मा की रुचि यथार्थ नहीं हुई है तो वह क्षयोपशम क्षयोपशमरूप ही रह जाता है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी की इच्छा अनुसार प्रवर्तना इसपर कुछ अधिक वज़न है ऐसा लगता है। तो यह वज़न देने का कोई कारण होगा?

समाधान :- ज्ञानी का आशय जो हो उस अनुसार वर्तना। क्योंकि अनादि कालसे अपनी मतिकल्पनासे अर्थ करता है। गुरुने ऐसा कहा है, वैसा अर्थ खुद को जहाँ ठीक लगे, खुद को जिसका रस हो उस अनुसार अर्थ करता है। लेकिन गहराई में जाकर ज्ञानी का क्या आशय है उसे तू ग्रहण कर। तुझे जहाँ ठीक पड़े, तुझे जहाँ रुचे और जहाँ तुझे पोषण मिले, तेरी मति का, रुचि का पोषण हो उस प्रकारसे तू ग्रहण कर लेता है। ऐसे नहीं। ज्ञानी का कहने का आशय क्या है? तू तटस्थ, मध्यस्थ होकर विचार कर कि ज्ञानी का आशय क्या है? मुझे ठीक पड़े ऐसे विचार करे तो यथार्थ समझ में नहीं आता। खुद को ठीक पड़े, खुद को पुरुषार्थ की मन्दता हो तो गलत तरीकेसे बचाव करे कि ऐसा ही कहा है, ऐसा करे तो गलत हो जाता है। खुदसे होता नहीं तो गलत तरीकेसे बचाव करके ऐसा अर्थ नहीं करे। ज्ञानी का आशय क्या है? धीरा होकर विचार करे, सच्चा आत्मार्थी है वह धीरा होकर विचार करता है कि मैं कर नहीं सकता हूँ, लेकिन ज्ञानी को तो ऐसा ही कहना है। मेरी खुद की मन्दता है। इसप्रकार ज्ञानी की इच्छा अनुसार, ज्ञानी के आशय अनुसार ग्रहण करना चाहिये।

मुमुक्षु :- आत्मा के छः पद है उसमें कर्ता-भोक्ता में क्या कहना चाहते हैं? आत्मा है वह नित्य है, कर्ता है और भोक्ता है उसमें क्या कहना चाहते हैं?

समाधान :- आत्मा का कर्तृत्व दोनों प्रकारसे आ जाता है कि आत्मा स्वयं रागादि भाव का कर्ता खुद अज्ञान अवस्थासे होता है और स्वभावसे अपने स्वभाव का कर्ता है। राग अवस्था में, विभाव अवस्था में, अज्ञान अवस्थासे रागादि का कर्ता है। इसलिये वह राग छूट सकता है और मोक्ष होता है। इसप्रकार मोक्ष का उपाय है, कर्ता है, भोक्ता है। अज्ञान अवस्थासे विभाव का कर्ता है, भोक्ता है और उससे मुक्ति होती है, मोक्ष हो सकता है और मोक्ष का उपाय भी है। आत्मा में कुछ है ही नहीं और आत्मा में विभाव हुआ ही नहीं और वह कोई जड़से हुआ है और खुदके कारण कुछ नहीं है, ऐसा नहीं है। स्वयं अज्ञान अवस्थासे विभाव का कर्ता है और विभाव का भोक्ता भी है। और उसमेंसे छूट सकता है। ज्ञान अवस्थासे स्वभाव का कर्ता होता है। और वह स्वभाव का कर्ता हो और ज्ञाता हो तो उसप्रकार का मोक्ष का उपाय है और मोक्ष भी है, ऐसा कहना

चाहते हैं। आत्मा कुछ करता ही नहीं है और विभाव हुआ ही नहीं है, ऐसा नहीं है। ऐसा कहना चाहते हैं। तो-तो फिर कुछ करना नहीं रहता, यदि कर्ता-भोक्ता नहीं हो तो। विभाव अनादिसे जो हो रहा है वह कोई जड़ नहीं करता, वह खुद उसमें जुड़ता है। इसलिये विभाव हो रहा है उसका कर्ता स्वयं है और उससे छूट सकता है। ज्ञान अवस्थासे खुद स्वभाव का कर्ता हो और ज्ञाता हो तो वह विभाव छूट जाते हैं। वह कर्म फिर कैसे छूटे? मोक्ष है और मोक्ष का उपाय भी है।

मुमुक्षु :- माताजी! शास्त्र में मुख्यरूपसे निश्चयनय और व्यवहारनय, दो नयसे कथन आते हैं। निश्चयनय का अर्थ—ऐसे ही है, और व्यवहारनय का अर्थ—ऐसे नहीं है, निमित्तादि का ज्ञान करवाने को इसप्रकार कथन करने में आया है। ऐसा सब शास्त्र का रहस्य समझकर ज्ञानी के बिना अथवा ज्ञानी की इच्छा अनुसार नहीं प्रवर्ते, क्या उसे ज्ञान नहीं होता?

समाधान :- ऐसा समझा कि कैसे है और कैसे नहीं है, वस्तु का स्वरूप समझे उसे भी ज्ञानी के आश्रयसे प्रवर्तन न करे और (अपनी) इच्छासे (प्रवर्ते) उसका कोई मतलब नहीं है। ऐसे प्रवर्तने का प्रयोजन क्या है? क्योंकि वह तो अपने क्षयोपशमसे नक्की करता है। लेकिन ज्ञानी, जिसे ज्ञान प्रगट हुआ है वे क्या कहते हैं ऐसी भावना आये बिना रहती ही नहीं। खुद क्षयोपशमसे नक्की करे कि मैंने जाना वह बराबर है, ज्ञानी क्या कहते हैं उसका विचार करने का काम नहीं है। ऐसा यदि भाव आये तो वह आत्मार्थी ही नहीं है। मैंने नक्की किया वह बराबर है, ज्ञानीने क्या कहा उसे विचारने का कोई कारण नहीं है, ऐसा यदि भाव आये तो वह आगे बढ़ नहीं सकता। शास्त्रसे नक्की करे लेकिन ज्ञानी क्या कहते हैं? मैं कहीं गलती तो नहीं कर रहा हूँ? ऐसा विचार आत्मार्थी को आये बिना रहता नहीं। इतना समझे कि मैं किस भूमिका में हूँ और ज्ञानी जो आगे बढ़े हैं, वे किस भूमिका में है, उनका बहुमान आये नहीं और अपनी इच्छासे प्रवर्ते तो उसकी भूमिका तैयारी ही नहीं है। उसे जहाँ निषेध आता है, वहाँ उसकी परिणति में न्यूनता है, पात्रता नहीं है। खुद शास्त्र का विचार करे लेकिन ज्ञानी क्या कहते हैं उसके साथ मिलान करने का अन्दरसे भाव आये। ज्ञानी का आशय क्या है, ऐसा उसे भाव आये बिना रहता नहीं।

आचार्य भी लिखते हैं कि जिनवरोंने ऐसा कहा है। जिनवर कथित। जिनवरने ऐसा कहा है। आचार्य भी शास्त्रों में लिखते हैं कि भगवानने ऐसा कहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय का (स्वरूप), आचार्य शास्त्र लिखे, विचार करे तो भी भगवानने क्या कहा है? ऐसा उनके परिणाम में आये बिना नहीं रहता। जो साधना करता है उसे अपनेसे जो बड़े हैं उन्होंने क्या कहा है, उसके विचार आये बिना रहते नहीं। उसका निषेध परिणाम में आये और अपनी मतिकल्पनासे (अर्थ करे) तो ऐसा क्यों है? मैं सब समझता हूँ, ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, यदि निषेध करे तो। मैं विचारता हूँ वह बराबर है। ज्ञानियोंने जाना उसे क्या जानना? मैं बराबर समझता हूँ, ऐसा निषेध का विचार आये तो वह पात्रता की न्यूनता है। जिसे साधना करनी हो उसे अपनेसे जो बड़े हैं, उसका विचार और बहुमान अंतर में आये बिना नहीं रहता। (यदि निषेध आता है) तो उसकी पात्रता की न्यूनता है, स्वच्छन्द है।

आचार्य भी शास्त्र में भगवान का नाम देकर लिखते हैं। उनकी शक्ति कितनी है! उनका ज्ञान कितना है! मुझे तो बहुत ज्ञान हो गया है, भगवानने जैसा कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ, अब भगवान का नाम लिखने की आवश्यकता नहीं है, वह कोई बात है? साधक को ऐसा (भाव) नहीं आता। अपनेसे बड़े हैं, उसे ऐसा लगता है कि मुझसे बड़े आचार्य कहाँ, मैं कहाँ! ऐसा उन्हें विचार आता है। तो भगवान की तो क्या बात? भगवान का तो विचार आये लेकिन अपनसे बड़े हैं उनका भी विचार आता है।

(चर्चा का शेष अंश अगले अंक में...)



**पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र**

**पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी के 'दृष्टि का
परिणमन और दृष्टि का विषय' सम्बन्धि चयन किये गये वचनानामृत**

प्रश्न :— आप शुद्ध पर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं या ज्ञान की अपेक्षा से?

उत्तर :— दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं; ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का जोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिये दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं। और अपनी तो यही 'दृष्टिप्रधान' शैली है, सो ऐसे ही कहते हैं। २.

सिद्ध (पर्याय) से भी मैं अधिक हूँ; क्योंकि सिद्ध (दशा) तो एक समय की पर्याय है; और मैं तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। ७.

जैसे मेरुपर्वत अडिग है; 'मैं भी (स्वभाव से) वैसे ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ भी आता-जाता नहीं—ऐसा मैं अडिग हूँ।' ८.

मैं वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ, आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ—ऐसी दृष्टि हो, तो फिक्कर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या? (पर्याय की इतनी गौणता द्रव्यदृष्टि में हो जाती है।)

मेरे को तो वर्तमान में ही आनंद आ रहा है फिर पर्याय में तो मोक्ष होगा ही! (—ऐसी प्रतीति आ जाती है।) लेकिन मेरे को तो उससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं। ९.

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में तो (शुद्धपर्याय) नहीं तो फिक्कर राग की तो बात ही क्या? (द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अर्थात् द्रव्यस्वभाव में अहंभावरूप श्रद्धा का परिणमन होना। ऐसी श्रद्धा होनेपर ही पर्याय शुद्ध होती है परंतु श्रद्धा उसमें अहंभाव नहीं करती।) ११.

पर्याय में तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो 'मेरे में (एकरूप द्रव्यस्वभाव में) कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता, मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ।' १२.

(द्रव्यदृष्टि के जोर में :) केवलज्ञान से भी हमारे प्रयोजन नहीं; मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; वो तो हो ही जाता है। १३.